

## सप्तम अध्याय

### “वर्ण—व्यवस्था” एवं ‘जाति व्यवस्था’ एक अनुशीलन

‘वर्ण’ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के ‘वृ×k\*’ अथवा ‘वरी’ धातु से हुई है जिसका अर्थ है चुनना या ‘वरण’ करना। संभवतः ‘वर्ण’ से तात्पर्य वृत्ति से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। वास्तव में ‘वर्ण’ उस सामाजिक वर्ण की ओर इंगित करता है, जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है, जो अपनी विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है। भारतीय साहित्य में ‘वर्ण’ शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो पूर्व वैदिक युग के समाज रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऋग्वैदिक समाज के प्रारम्भिक चरण में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थ में हुआ है। उषा को अरुण वर्ण तथा रात्रि को कृष्ण वर्ण कहा गया है।<sup>1</sup> वर्ण—व्यवस्था काविकास अचानक न होकर क्रमिक विकास हुआ है। आर्य और अनार्य पूर्ण विकसित होकर समाज चार वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र रूप में विभक्त हुआ।

‘जाति’ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की ‘जन’ धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ ‘जन्म’ अथवा ‘भेद’ से लिया गया है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध प्रजातीय अथवा जन्मगत आधार पर स्थित व्यवस्था से माना जा सकता है। जाति—प्रथा जन्म से प्रभावित और वर्णगत ढाँचे पर आधारित ऐसी प्रथा है, जिसमें आबद्धता भी है और गतिशीलता भी है।

---

<sup>1</sup> ऋग्वेद 1/73/7

यद्यपि भारतीय जाति-प्रथा के लिए कहा गया है कि यह कुटुम्बों अथवा कुटुम्बों के समूह 'वर्ग' का समवेत रूप है, जो साधारण नाम के साथ एक काल्पनिक पूर्वज, मनुष्य या देवता, एक सामान्य वंश-परम्परा का दावा करते हैं, ऐसे समाज परंपरागत व्यवसाय करते रहने पर बल देते हैं जो सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं। और जो अपना इस प्रकार का मत व्यक्त करने में समर्थ होते हैं।<sup>2</sup>

'वर्ण' एवं 'जाति' दोनों शब्दों का प्रयोग बहुधा समान अर्थ में होता रहा है। कभी-कभी दोनों के अर्थों में अन्तर भी पाया जाता रहा है। वर्ण की धारणा-वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्यों पर समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। किन्तु इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है और बिना कर्तव्यों के आचरणों पर बल दिये केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है।

वैदिक साहित्य में 'जाति' के आधुनिक अर्थ का प्रयोग नहीं हुआ है। निरुक्त में 'जाति' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।<sup>3</sup> मनु ने 'वर्ण' शब्द को मिश्रित जातियों के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है और कहीं-कहीं इसका प्रयोग 'जाति' अर्थ में भी किया है।<sup>4</sup>

<sup>2</sup> हरबर्ट रिजले, द पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ० 5.

<sup>3</sup> निरुक्त, 12/13

<sup>4</sup> मनुस्मृति, 3/15

प्राचीन भारत का समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। मानव समाज को चार वर्गों या 'वर्णों' में और मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— ये चार वर्ण हैं। पढ़ने—पढ़ाने, धार्मिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने, और धर्ममार्ग के अनुसरण के लिये प्रेरित करने के लिए काम करे, उन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। देश की वाह्य और आभ्यान्तर शत्रुओं की रक्षा करना और समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना क्षत्रिय वर्ग का कर्तव्य था। जो कृषि, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग आदि द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन करें उन्हें वैश्य कहा जा सकता है। जो अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा में रहकर अपना जीवन व्यतीत करे, वे शूद्र कहलाते हैं। ये चार ऐसे वर्ण हैं जो किसी भी समाज में हो सकते हैं। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने यह प्रतिपादित किया था, कि सभी को अपने—अपने वर्ण—धर्म का पालन करना चाहिए, और राज्यसंस्था का भी कर्तव्य है कि वह सबको अपने—अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। इस प्रकार प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन अनेक अंशों में वर्णव्यवस्था पर आधारित रहा है।

'वर्ण' और 'जाति' पर्यायवाची शब्द नहीं है। वर्ण एवं जाति में भेद है। 'वर्ण' संख्या में चार है, पर जातियों की संख्या अधिक है। चारों वर्णों के लोगों को गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानव समूह को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। परन्तु सैकड़ों, हजारों ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें परस्पर पृथक होने की अनुभूति विद्यमान है, जिनमें परस्पर विवाह—सम्बन्ध नहीं हो सकता और खान—पान के विषय में भी जिनकी अपनी—अपनी मर्यादाएँ हैं, उनका विकास वर्णभेद से पृथक व स्वतन्त्र रूप से हुआ।

उत्तर वैदिक काल से ही 'जाति' शब्द का व्यवहार 'जनसमुदाय' के लिए होने लगा था। 'जाति' शब्द का प्रयोग निश्चय ही जनसमूह के लिए हुआ है, जो एक निश्चित जाति के अर्थ में है। पाणिनि ने भी अनेक बार शब्दोत्पत्ति की व्याख्या करते हुए 'जाति' शब्द का उल्लेख किया है। 'अष्टाध्यायी' में 'वर्ण' शब्द के साथ 'जाति' शब्द का भी निवेशन है, जो निश्चय ही वर्ण के स्थान पर प्रयुक्त है। 'जाति' का एक-एक व्यक्ति 'बन्धु' कहा जाता था। सूत्र का अर्थ यह है कि जातिवाची शब्द से 'छ' प्रत्यय लगाकर उस जाति के एक व्यक्ति का बोध होता है।

उदाहरण के लिए ब्राह्मणजातीय, क्षत्रियजातीय आदि। अतः सभी जाति-सदस्य अपने में सबन्धु अथवा समाज बंधु कहलाते थे।<sup>5</sup> कात्यायन 'श्रौत्रसूत्र' में जाति शब्द का प्रयोग परिवार के अभिप्राय में किया गया है।<sup>6</sup> 'गौतम धर्मसूत्र' और आपस्तम्ब धर्मसूत्र जैसे सूत्र ग्रन्थों में भी 'जाति' शब्द का उल्लेख अलग-अलग जन समुदाय के अर्थ में ही किया गया है।<sup>7</sup> मनु ने ब्राह्मण के लिए 'जाति' शब्द का व्यवहार किया है।<sup>8</sup> निश्चय ही दूसरी सदी ई0पू0 से 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के अर्थ में भी होने लगा, जो समान धर्म अपनाने वाले अथवा एक विशिष्ट वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था।

वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन समय में इतनी सुदृढ़ हो गयी थी कि देवताओं में भी जाति-विभाजन हो गया था। अग्नि एवं बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण थे, इन्द्र, वरुण, यम क्षत्रिय थे, बसु, रुद्र, विश्वे-देव एवं मरुत विश्व थे,

<sup>5</sup> वही 1.6.3.81 जात्यंताच्छ बन्धुनि

<sup>6</sup> कात्यायन श्रौत्रसूत्र 4.1.4

<sup>7</sup> गौतम धर्मसूत्र 11.30

जात्याचारसंशये धर्मार्थमागतमग्निमुप समाधाय जातिमाचारं च पृच्छेत्।

<sup>8</sup> वही 8.20, जातिमात्रोपजीव वा कामं स्याद् ब्राह्मण ब्रुवः।

तथा पूषा शूद्र था। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि ब्राह्मण बसन्त ऋतु है, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु एवं विश्व वर्षा ऋतु है।

‘वर्ण-व्यवस्था’ और जाति का एक पारस्परिक सम्बन्ध था। वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था में ऋग्वेद के अन्तिम चरण तक समाज का चार वर्णों में विभाजन हुआ था। पुरुषसूक्त से ज्ञात होता है कि चारों वर्णों का सामाजिक प्राथमिकता के आधार पर स्तरीकरण हुआ था जिसके अनुसार ब्राह्मणों का स्तर सबसे ऊँचा था और शूद्रों का सबसे नीचे। किन्तु जाति प्रथा का, अर्थात् समाज का जन्मगत जातियों के रूप में अनेक वर्णों में विभाजन अभी नहीं हुआ था। सवर्ण विवाह और खान-पान सम्बन्धी नियम कठोर नहीं थे। सामाजिक वर्णों में पर्याप्त मात्रा में लचीलापन विद्यमान था। इसी प्रकार उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था भली-भाँति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है तथा इनके लिये वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है। एक वर्ण का दूसरे वर्ण में प्रवेश करना केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों तक ही सीमित रहा। किन्तु वैश्य और शूद्र का सम्बन्ध इन वर्णों में जाति प्रथा ने कई दिशाओं में प्रगति की। शिल्प और अन्य व्यवसाय श्रेणियों में संगठित हुए और व्यवसाय सामान्यतः पैतृक हो गये। पैतृकता तथा क्षेत्र विशेष में सीमित होने के कारण वे कालान्तर में जातियों में परिवर्तित हो गये।

वैदिक काल के अन्त होने के पूर्व निम्नलिखित जातियों का उद्भव हो चुका था। ये जातियाँ विभिन्न व्यवसायों एवं शिल्पों से सम्बन्धित थी। तैत्तिरीय संहिता (17/13) अथर्ववेद, ताण्ड्य ब्राह्मण (3/4) ऐतरेय ब्राह्मण, छान्छोग्य एवं बृहदारण्यकोपनिषद् के आधार पर ही निम्न सूची मिलती है।

ऐतरेय ब्राह्मण<sup>9</sup> में उल्लेख मिलता है कि जब विश्वामित्र ने अपने 50 (पचास) पुत्रों को आज्ञा दी कि वे शुनश्शेष को भी अपना भाई माने और जब उनके पुत्रों ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया तो उन्होंने उन सभी को अन्ध, पुण्ड्र, शवर, पुलिन्द भूतिव हो जाने का शाप दिया। ये जातियाँ दस्यु थीं। सम्भवतः इन्हीं कथाओं के आधार पर मनुस्मृति<sup>10</sup> ने पौण्ड्रकों ओ, द्रविणों कम्बोजों, यवनों, शकों, किरातो, दरदो एवं रुशों को मूलतः क्षत्रिय माना है और कहा है कि वे कालान्तर में वैदिक संस्कारों के न करने से ब्राह्मणों के सम्बन्ध से दूर रहने पर शूद्रों की श्रेणी में आ गये। मनु ने आगे चलकर यह भी कहा कि चारों वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियाँ शूद्र हैं, चाहे वे आर्यो या म्लेच्छो की भाषा बोलती हो।

### जाति—प्रथा का उद्भव संबंधी सिद्धान्त —

प्राचीन भारतीय साहित्य में समाज के निर्माण का उल्लेख अलौकिक विश्वास के साथ 'वर्ण' व्यवस्था के माध्यम से किया गया। 'वर्ण' भारतीय जाति—व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप है, जिसे प्रतीकात्मक रूप में लाक्षणिकता के साथ वर्णित किया गया है। वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों, धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में वर्ण अथवा जाति—प्रथा के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त का संकेत ईश्वरीय व्यवस्था के रूप में मिलता है, यद्यपि इस सिद्धान्त का उल्लेख 'वर्ण' के माध्यम से हुआ है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णों की उत्पत्ति विराट्पुरुष से मानी गयी

<sup>9</sup> ऐतरेय ब्राह्मण 33/6

ताननुव्याजहा रान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति । त एतेऽन्धाः पुण्ड्राः शकराः पुलिन्दा मूतिवा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः ।

<sup>10</sup> मनुस्मृति, 10/53-45, शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।। पौण्ड्रकाश्चौड्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदाः पहवाश्चीनाः किरात दरदाः खशः ।। मुखबाहूरुपज्जाताया लोके जात्यो वहिः । म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृतः ।।

है, जिसके अनुसार उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य, जाँघ से वैश्य पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई थी।<sup>11</sup> जिस प्रकार शरीर में चारों अंगों का महत्व है उसी प्रकार इन चारों वर्णों का समाज में महत्व था। उपनिषदों, संहिताओं आदि में वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी गयी है, जो परम्परागत सिद्धान्त अथवा दैवी सिद्धान्त की बल प्रदान करता है।

चारों वर्णों का उल्लेख 'छांदोग्योपनिषद्' में भी हुआ है।<sup>12</sup> अनेक जातियों और उपजातियों के उद्भव के विषय में भी कहा गया है कि अन्तर्जातीय विवाह के कारण वर्णसंकरता से जन्मीं। स्मृतियों में भी वर्णों की उत्पत्ति दैवी मानी गयी है। मनु के अनुसार ब्रह्मा ने इस सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र के अलग-अलग कर्मों की सृष्टि की।<sup>13</sup> विभिन्न जातियों के उत्पत्ति के बारे में मनु का मत है कि वे अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण उत्पन्न हुई है। अनेक वर्णसंकर जातियों का विकास इसी प्रकार हुआ।<sup>14</sup> सम्भवतः इस प्रकार समाज में विभिन्न जातियों और उपजातियों का उदय हुआ।

जातिप्रथा के विकास में ब्राह्मणों का विशेष स्थान रहा है। इसलिए अनेक समाजशास्त्रियों ने जाति-प्रथा को ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मणों द्वारा बनायी गयी राजनीति-प्रेरित चतुर योजना के रूप में स्वीकार किया गया है, इसलिए ब्राह्मणों ने अपनी विशिष्टता और प्रधानता को ध्यान में रखकर जाति की सरंचना की थी।<sup>15</sup>

---

<sup>11</sup> ऋग्वेद, 10.99-12

<sup>12</sup> छांदोग्योपनिषद्, 5.10.7, 8.14.1

<sup>13</sup> मनुस्मृति, 1.87

<sup>14</sup> वही, 10.11

<sup>15</sup> डुबासय, हिन्दू मैनेर्स, कस्टम्स ऐंड सेरेमनीज, पृ0 173.

घुर्ये के अनुसार 'जाति प्रथा' इण्डो-आर्यन- संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है।<sup>16</sup>

जाति-प्रथा की उत्पत्ति विभिन्न पेशों अथवा व्यवसायों के आधार पर भी स्वीकार की गई है। व्यवसाय उच्चता और निम्नता के आधार पर ही समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसी जातियों की स्थिति को स्वीकार्य की गई तथा उनके विकास का मूल माना गया। व्यवसाय पर एकाधिकार स्थापित करने के आधार पर ब्राह्मणों ने पुरोहित पर अपना एकमात्र अधिकार कर लिया, उससे कम महत्वपूर्ण व्यवसाय प्रशासन पर क्षत्रियों ने एकाधिकार कर लिया तथा इससे कम महत्वपूर्ण व्यवसाय व्यापार वैश्यों ने एकाधिकार किया, जो जाति-विभाजन का कारण बना। जाति की ऊँच-नीच की भावना से ही भेदभाव का जन्म हुआ, जो जाति का प्रधान लक्षण कहा गया।<sup>17</sup>

जाति प्रथा के विकास में प्रजातीय तत्त्वों का विशेष स्थान रहा, ऐसा समाजशास्त्रियों का विचार है। समाज में जातिगत सदस्यों के रहन-सहन, खान-पान, छुआ-छूत, ऊँच-नीच आदि की भावना ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति के मुख्य प्रेरक तत्व रहे हैं।

### जाति व्यवस्था का विकास-

'जाति' का आधार जन्म है। 'जाति' की परिभाषा कठिन है, क्योंकि इसका स्वरूप बराबर बदलता रहता है। ऋग्वेद में आर्यों के समाज ने चार वर्णों में विभक्त होने के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु इस काल में किसी भी 'वर्ण' का व्यक्ति

<sup>16</sup> घुर्ये, कास्ट, क्लास ऐंड आकृषेशन, पृ0 165-168, 172

<sup>17</sup> वही, पृ0 9-10



कोई भी व्यवसाय कर सकता था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक काल में समाज के चार वर्ग थे, जो व्यक्तिगत विशेषताओं पर आधारित थे। उनमें जन्म का कोई महत्व नहीं था। ऋग्वैदिक युग में ही प्रचार प्रधान श्रेणियों के अतिरिक्त अनेक व्यवसायपरक जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। उनमें चर्मग्न, चर्मकार, कापीर, लोहार—तप्टा भिषक, वैद्य आदि प्रमुख जातियाँ हैं।<sup>18</sup> 'वाय' शब्द का उल्लेख जुलाहे के अर्थ में किया गया है।<sup>19</sup>

कृषि—पशुपालन और व्यापार आर्यों के प्रधान कर्म थे, किन्तु उनके विस्तार के साथ—साथ अनेकानेक उद्योग धन्धों का विकास हुआ। इन उद्योग—धन्धों में लगे रहने के कारण विभिन्न वर्गों का उदय हुआ।

अतः ऋग्वैदिक समाज में ही विभिन्न प्रकार के व्यवसायी और शिल्पी प्रकाश में आ चुके थे, जो कालान्तर में अलग—अलग इकाई के रूप में आर्थिक जीवन को संवृद्ध कर रहे थे।

उत्तर वैदिक काल में बड़े राज्यों के उदय से क्षत्रियों का महत्व बढ़ा। धार्मिक कृत्य अत्यन्त जटिल हो गये थे। इसलिए ब्राह्मणों की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ी तथा अनेक व्यवसाय पैतृक हो गये जिससे श्रेणियों का उदय हुआ। इस युग में व्यवसायों और शिल्पों का विकास प्रारम्भ हो गया था। नये—नये उद्योग—धन्धों के कारण विभिन्न व्यवसायगत और शिल्पगत वर्गों का गठन भी होने लगा था। रथकार, सूत, कर्मर, कुलाल, धवकृत, मृगयु, 'वय' मणिकार, सुराकार, कंटककार, निषाद् आदि अनेक व्यवसाय—प्रधान वर्गों का उल्लेख उत्तर

---

<sup>18</sup> ऋग्वेद, 8.2.38, 9.112.2

<sup>19</sup> वही, 10.26.6

वैदिक ग्रन्थों में हुआ है।<sup>20</sup> इस युग में सूत को उच्च पद प्राप्त था, जिसने कालान्तर में अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो दी।<sup>21</sup> विविध व्यवसायों और शिल्पों का विकास इस युग के सामाजिक उत्कर्ष का परिचायक था।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि लोहार, रथकार और बढ़ई जैसे शिल्पी तत्कालीन जीवन को अपने विशेष कार्यों से संवृद्ध करने में लगे थे। रथकर रथों का निर्माण करता था और लोहार लोहे की अनेकानेक वस्तुएँ निर्मित करता था। इन तीनों वर्गों में रथकार की उच्च स्थिति थी। उसे अग्निहोत्र का भी अधिकार प्राप्त था।<sup>22</sup> अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि कर्मर अथवा लोहार के शिल्प का समाज में आदर था, इसलिए उसे 'मनीषी शिल्पकार' भी कहा गया।<sup>23</sup> इस युग में बुनकर का कार्य करने वाले को 'वाय' कहा गया जो विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का निर्माण करते थे।<sup>24</sup> सूती वस्त्रों के अतिरिक्त ऊनी वस्त्र भी समाज में प्रचलित थे,<sup>25</sup> जिसमें यह पता लगता है कि उस युग में ऐसे तन्तुवाय थे तो सूती, ऊनी और रेशमी सभी प्रकार के वस्त्र बुनते थे। रेशमी वस्त्र का भी उपयोग किया जाता था। मिट्टी के वर्तन बनाने वाले कुलाल (कुम्हार) समाज में विशेष स्थान रखते थे।<sup>26</sup> घड़े, तश्तरियाँ, प्याले आदि बनाकर वे समाज की सेवा में रत रहते थे। कालान्तर में विभिन्न व्यवसाय और शिल्प में

---

<sup>20</sup> अथर्ववेद 3.5.6.7

<sup>21</sup> शतपथ ब्राह्मण – 13.2.2.18,  
यथा वे राज्ञी राजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः।

<sup>22</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1.1.4

<sup>23</sup> अथर्ववेद 3.5.6

<sup>24</sup> वाज0 संहिता 13.50

<sup>25</sup> शतपथ ब्राह्मण 12.5.1.13

<sup>26</sup> शतपथ ब्राह्मण 9.8.1

लगे रहने वाले उपयुक्त वर्ण अलग-अलग जातियों के रूप में विकसित हुए, जो शूद्र वर्ण के अन्तर्गत गृहीत किये गये।

इस प्रकार पेशे अथवा व्यवसाय क्रमशः पैतृक होते गये, जिससे समाज में अनेक जातियाँ बन गयीं। तन्तुवाय, कुम्भकार (बढ़ई) जैसी शिल्प-प्रधान जातियाँ बौद्ध युग में भी थीं।<sup>27</sup> इस युग तक ऐसी व्यवसायपरक और शिल्पपरक जातियाँ अपने अलग-अलग ग्राम में निवास करने लगीं। धर्मसूत्रों, प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों एवं मेगस्थनीज के अपूर्ण उदाहरणों से पता चलता है कि ईसा के कई शताब्दी पूर्व अनेक जातियाँ विद्यमान थीं।

मेगस्थनीज के वृत्तान्त से पता चलता है कि भारत के 'जन' सात जातियों में विभाजित थे— (1) दार्शनिक (2) कृषक, (3) गोपाल एवं गड़रिया, (4) शिल्पकार, (5) सैनिक, (6) अवेक्षक तथा (7) सभासद एवं करग्राही। इनमें पहला एवं पांचवा वर्ग क्रम में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जाति के सूचक हैं, दूसरा एवं तीसरा वर्ग वैश्य के चौथा शूद्र का एवं छठा तथा सातवाँ अध्यक्षों एवं अमात्य के सूचक हैं। मेगस्थनीज ने यह भी कहा कि एक जाति के लोग दूसरी जाति से विवाह आदि नहीं कर सकते थे और न अपनी जाति के व्यवसाय के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवसाय कर सकते थे। यह कथन केवल सिद्धान्त की ओर संकेत करता है न कि व्यवहार की ओर।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने श्रुति-सम्मत चार वर्णों से उद्भूत शाखा-प्रशाखाओं की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा है। स्मृतियों में कतिपय जातियों एवं उपजातियों का वर्णन है। ये जातियाँ कल्पनात्मक नहीं थीं, प्रत्युत

---

<sup>27</sup> मज्झिम निकाय, 2 पृ 118

उनके पीछे परम्पराओं एवं रूढ़ियों का इतिहास था। प्रत्येक वर्ण का आन्तरिक संगठन समान था। वर्णों के लिए अब जाति शब्द प्रयुक्त होने लगता है, जिससे पता चलता है कि वर्ण जातियों का रूप धारण कर रहे थे। विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय जिनके कि व्यवसाय निश्चित थे। शतपथ ब्राह्मण में लिखा गया है कि ब्राह्मण क्षत्रिय पर निर्भर है। ऐसा विचार ऐतरेय ब्राह्मण में भी व्यक्त किया गया है। इस प्रकार चारों वर्णों की स्थिति समान न रहीं। यह तथ्य इस बात से भी स्पष्ट है कि चारों वर्णों के व्यक्तियों के लिए चार भिन्न-भिन्न शब्द 'एहि' 'आगच्छ' 'आद्रव' और 'आधव' प्रयुक्त किए गए हैं।<sup>28</sup>

धर्मसूत्रों में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों को द्विजाति कहा है। उपनयन संस्कार को आध्यात्मिक जन्म माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को उपनयन संस्कार का अधिकार था और तदुपरान्त वे वेदाध्ययन और यज्ञ इत्यादि कर सकते थे। शूद्र को एक जाति कहा गया है क्योंकि उसे उपनयन संस्कार का अधिकार नहीं था और इसी कारण वह वेदाध्ययन और यज्ञ इत्यादि धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता था।

धर्मसूत्रों से ज्ञात होता है कि अब व्यक्ति का वर्ण साधारणतया उसके जन्म के आधार पर निर्धारित किया जाता था। पुरोहितों ने अपने को पूर्णतया संगठित कर लिया था। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ वर्ण माना गया है और उसके विशेषाधिकारों का वर्णन किया गया है, ब्राह्मणों को अनेक करों से मुक्त कर दिया गया। राजाओं एवं पुरोहितों का बहुत प्रभाव था इसलिए ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। गौतम के कथनानुसार ब्राह्मण व्यापारी का भोजन तो कर लेते थे किंतु शिल्पियों का नहीं करते थे।

<sup>28</sup> शतपथ ब्राह्मण, 1.1.4.12

आपस्तम्ब में यह उल्लेख मिलता है कि राजा को उन सब व्यक्तियों को दंड देना चाहिए जो वर्ण-धर्म का उल्लंघन करें। ब्राह्मणों को तीन अन्य वर्णों क्षत्रिय, वैश्यों और शूद्रों से श्रेष्ठ कहा गया है। धर्मसूत्रों में तीन उच्च वर्णों की स्थिति शूद्रों की स्थिति से निश्चय ही अच्छी है किन्तु यह अंतर जन्म के आधार पर न होकर सांस्कृतिक आधारित था। गौतम धर्मसूत्र में ब्राह्मणों को अपने सेवकों द्वारा कृषि, व्यापार और साहूकार कराने की अनुमति दी गई है— ये सब वैश्य के कार्य थे। गौतम ने गरीब ब्राह्मण को शूद्र कर्म करने की भी अनुमति दी है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इस काल में ब्राह्मण सभी वर्णों के कार्य करते थे।

गौतम बुद्ध ने भी पाँच प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। 'ब्रह्मसम' जो ब्रह्म में लीन रहते थे, 'देवसम' जिनका चरित्र देवताओं के समान पवित्र था। 'मरियाद' जो ब्राह्मण जाति के लिए निर्दिष्ट सभी नियमों का पालन करते थे। 'सभिन्न-मरियाद' जो अपनी जाति के नियमों का पालन नहीं करते थे और 'ब्रह्मचांडाल' जो चांडालों के समान आचरण करते थे। इसी प्रकार 'दश ब्राह्मण जातक' से हमें ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में कुछ वैद्य, कुछ गाड़ी चलाने वाले, कुछ कर वसूल करने वाले, व्यापारी, किसान, दण्डपाशक, शिकारी और निम्न स्तर के राजकीय कर्मचारी थे। इस प्रकार इससे स्पष्ट होता है कि ये सब कार्य ब्राह्मणों के कर्तव्य नहीं थे किन्तु इस काल में व्यवसायों के चुनाव पर प्रतिबंध न था।

क्षत्रियों की स्थिति लगभग ब्राह्मणों के समकक्ष थी। बौद्ध ग्रन्थों में क्षत्रिय को सर्वश्रेष्ठ जाति कहा है। बौद्ध ग्रन्थ के जातक कथाओं से स्पष्ट होता है कि क्षत्रियों में भी कुछ व्यवसायों में लगे थे। उनमें से कुछ कुम्हार, माली आदि का

कार्य करते थे। जैन ग्रंथों में भी ब्राह्मणों के प्रति असम्मान प्रदर्शित किया गया है। इसका अर्थ है कि समाज में चार वर्ण चार जातियों में बदल गए थे। गौतम बुद्ध और 'महावीर' जन्म से जाति के समर्थक न थे। वे कर्म के आधार पर किसी को ब्राह्मण या क्षत्रिय का कर्तव्य निर्धारण किए थे। जैन ग्रंथ पन्नवणा में देश, जाति कुल, कर्म, भाषा और शिल्प के आधार पर पाँच प्रकार के आर्य बतलाए हैं। इसका अर्थ यह है कि इस ग्रंथ का लेखक जन्म को महत्व नहीं देता। वर्गीकरण के लिए जाति के साथ देश, कुल, कर्म, भाषा और व्यवसाय को भी महत्व दिया गया है।

इस काल में वैश्यों की स्थिति गिर रही थी, क्योंकि उनके शूद्रों के साथ घनिष्ठ संबंध थे, किंतु ब्राह्मणों और क्षत्रियों की स्थिति से उनकी स्थिति में अधिक अंतर न था। बौद्ध ग्रंथों में वैश्यों के लिए अधिकतर 'गृहपति' शब्द का प्रयोग किया गया है। समस्त उद्योगों और व्यापार पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था। चित्तसंभूत जातक के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि 'गृहपति' जाति का उच्च वर्ग सेटिठी नाम से प्रसिद्ध था। उसे अपने व्यापारिक वर्ग में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और राजदरबार में भी उसकी प्रतिष्ठा थी।

शूद्रों से आशा की जाती थी कि वे पवित्रता, सत्यता, नम्रता से अपना जीवन व्यतीत करें। उनके प्रमुख कर्तव्यों में तीन उच्च जातियों की सेवा, संयम से जीवन बिताना, अपने आश्रित व्यक्तियों का भरण—पोषण करना उल्लेख है। वे नाई, धोबी, बढई, लुहार आदि का व्यवसाय करते थे। यदि शूद्र अस्वस्थता आदि के कारण कोई अपना कार्य न कर सकता तो उसका स्वामी उसका भरण—पोषण करता था।

इस प्रकार धर्मसूत्रों से विदित होता है कि इस काल के प्रारंभ में आर्य शूद्रों का बनाया हुआ भोजन करते थे, किन्तु ब्राह्मण शूद्र को अस्पृश्य समझते थे और उनके हाथ का छुआ भोजन नहीं करते थे। बौद्ध साहित्य में स्पष्ट रूप से शूद्र वर्ण के अस्तित्व का उल्लेख नहीं है किन्तु जातकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज में उन्हें बहुत नीचा समझा जाता था। समाज का चार वर्णों में विभाजन इसलिए किया गया था कि समाज का कार्य सुचारु रूप से चल सके। यह तभी हो सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्णधर्म का पालन करें।

इन चार वर्णों या जातियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे थे जिन्हें आर्यों के समाज का भाग नहीं समझा जाता था। बौद्ध ग्रंथों में उन्हें हीन-जाति कहा गया है। इनमें पाँच प्रमुख थी, चांडाल, वेण, निषाद, रथकार और पुक्कुस। चांडालों की उपस्थिति में वेद पाठ करना मना था किन्तु वे अन्तेष्टि संस्कार में आहुतियों दे सकते थे।

इस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-चार जातियों के अतिरिक्त अनेक नई जातियां बन गईं जिनके कुछ तत्व वैदिक काल में विद्यमान थे जैसे कि व्यवसाय विशेष, प्रजाति या निवास स्थान। आपस्तंब धर्मसूत्र में लिखा है कि चोरी करने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः चांडाल, पुक्कुस और वेण योनियों में जन्म लेते हैं। किन्तु बौधायन ने इन सब जातियों की उत्पत्ति वर्ण के फलस्वरूप बतलाई है। जैसे कि शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता के संतान को उसने 'चांडाल' कहा है। वैश्य पिता और शूद्र माता की संतान को बौधायन ने 'रथकार' कहा गया है। बौद्ध ग्रंथों से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि श्रेणियां अर्थात् व्यावसायिक संगठनों के आधार पर अनेक जातियां बनीं।

विनयपीटक (लगभग ई०पू० चौथी शदी) से ज्ञात होता है कि वेणों, चांडालों, निषादों, रथकारों ने उस समय तक अपनी अलग जातियां बना ली थी किंतु चमार, कुम्हार आदि हस्तशिल्पियों के वर्ग अभी संगठित न थे। इस काल में जाति प्रथा में इतनी संकीर्णता नहीं आई थी जितनी बाद में आई। तीन उच्च वर्णों के व्यक्ति अंतरजातीय विवाह करते थे और खानपान में उनमें किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था। जिन व्यक्तियों को जाति के नियमों का पालन न करने के कारण जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था, वे भी प्रायश्चित्त के रूप में निर्धारित धार्मिक कृत्यों को करने पर पुनः अपनी जाति में सम्मिलित हो सकते थे।

मनु<sup>29</sup> ने चारों वर्णों के प्रायः वे ही सब कर्तव्य बतलाए हैं जिनका उल्लेख धर्मसूत्रों में है। कौटिल्य ने तीन उच्च जातियों के तीन समान कर्तव्य : वेदों का अध्ययन, अध्यापन और यज्ञ करना बतलाए हैं। ब्राह्मणों के यज्ञ कराना, दान देना और दान ग्रहण करना, क्षत्रियों को जीवन निर्वाह के लिए शस्त्रों का प्रयोग और प्राणियों की रक्षा, और वैश्यों के कृषि, पशुपालन और व्यापार के विशिष्ट कर्तव्य बतलाए हैं। शूद्रों के चार कर्तव्य : द्विजों की सेवा, धन कमाना, कला और शिल्प बतलाए हैं। इस काल से पूर्व बौद्ध और जैन संप्रदाय के प्रवर्तकों ने कहा था कि वर्ण विभाजन कर्म के आधार पर होना चाहिए न कि जन्म के आधार पर। कृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर समाज का विभाजन चार वर्णों में किया है। महाभारत में भी कहा है कि ब्राह्मण का समाज में इतना आदर उसे जन्म के कारण नहीं है, वह तो उसके आचरण के कारण है।

---

<sup>29</sup> मनुस्मृति, 1, 88-91



इस काल में प्रमुख घटना यवन, पट्टव, शक और कुषाण जैसी अनार्य जातियों का भारतीय समाज में सम्मिश्रण है। इसके कारण और आर्यों में उसके प्रभाव से बचने की इच्छा से कुछ संकीर्णता आने लगी। यद्यपि वे सब विदेशी जातियां भारतीय समाज में घुल मिल गईं।

गुप्तकाल में ब्राह्मणों की बहुत प्रशंसा की गई और उन्हें पृथ्वी पर देवता मान लिया गया। कात्यायन के अनुसार ब्राह्मण कभी किसी का दास नहीं हो सकता। गुप्त, वाकाटक तथा अन्य समकालीन राजवंशों के अधिकांश शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी तथा उत्साही पोषक थे। परिणामस्वरूप विवेच्यकाल में ब्राह्मण धर्म की संस्थायें वर्ण एवं जाति व्यवस्थायें अधिक प्रखर एवं सुदृढ़ हो गई थी। इस काल में व्यवसायों पर भी कोई विशेष प्रतिबंध न था। अनेक ब्राह्मण व्यापारी, वास्तुकार, राजकीय कर्मचारी और शासक थे। चारुदत्त ब्राह्मण था किंतु वह वैश्यों का व्यवसाय करके आजीविका अर्जित करता था।

अनेक क्षत्रिय भी व्यापार और उद्योगों में लगे थे। गुप्त सम्राट संभवतः वैश्य थे किन्तु क्षत्रियों के रूप में शासन कर रहे थे। याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को कृषि और व्यापार करके अपना निर्वाह करने की अनुमति दी है। इससे स्पष्ट होता है कि वैश्यों और शूद्रों की स्थिति में विशेष अंतर न रहा। इस काल में अनेक व्यवसाय करने वालों की अपनी-अपनी अलग-अलग जातियाँ बन गई थीं जैसे कि किसान, व्यापारी, पशुपालक, लुहार, बढई, जुलाहे और माली। ये आपस में ही विवाह संबंध करते थे। गुप्तकाल में कायस्थ लिपिक के रूप में कार्य करते थे किन्तु उनकी अलग कोई जाति नहीं बनी थी।

शूद्र अब पूर्णतया अस्पृश्य समझे जाने लगे। वे गाँव के बाहर रहते थे और उच्च जाति के लोग उनसे किसी प्रकार का संबंध नहीं रखते थे।

### वर्ण संकर जाति अथवा निम्न व्यवसाय प्रधान जाति –

उपनिषदों से विदित होता है कि चातुर्वर्णों के अतिरिक्त समाज में अनेकानेक जातियाँ थी, जिनकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम जैसे अन्तर्जातीय विवाह से हुआ था।<sup>30</sup> आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने अनुलोम विवाह को भी अस्वीकृत किया है।<sup>31</sup> उन्होंने अनुलोम एवं प्रतिलोम जातियों की चर्चा तक नहीं की है। याज्ञवल्क्य (1/55-57), गौतम (4/1) ने स्वजाति-विवाह को उचित कहा है, किन्तु अनुलोम विवाह को वर्जित नहीं माना है। याज्ञवल्क्य<sup>32</sup> ने स्पष्ट शब्दों में छः अनुलोम जातियों के नाम बताये हैं, यथा— मूर्धावसिक्त, अम्बण्ड, निषाद, माहिष्य, उग्र एवं करण। ये जातियाँ उच्च वर्ण के पुरुषों एवं उनसे निम्न वर्ण की स्त्रियों की सन्ततियों से उत्पन्न हुई हैं। मनु<sup>33</sup> ने लिखा है कि छः अनुलोम जातियाँ द्विजों के सारे क्रिया-संस्कारों को कर सकती है, किन्तु प्रतिलोम जातियाँ शूद्र के समान हैं। वे द्विजों के संस्कार आदि नहीं कर सकती, चाहे वे ब्राह्मण स्त्री एवं क्षत्रिय पति या वैश्य पति से ही क्यों न उत्पन्न हुई हो। कौटिल्य ने लिखा है कि चाण्डालों को छोड़कर सभी प्रतिलोम शूद्रवत् हैं।

अनेक स्मृतिकारों के अनुसार भी विविध जातियों की उत्पत्ति अन्तर्वर्णीय या असवर्ण विवाह से हुई थी। बौधायन के अनुसार वर्णसंकर से उत्पन्न संतान

<sup>30</sup> छान्दोग्य उपनिषद, 5.10.7

<sup>31</sup> आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/6/13/1, 3-4

<sup>32</sup> याज्ञवल्क्य, 1/92

<sup>33</sup> मनुस्मृति, 10/41

“ब्रात्य” कही जाती थी।<sup>34</sup> बृहस्पति ने भी अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों को वर्णसंकरता का कारण माना है।<sup>35</sup> वर्णसंकर जातियों का भी आपस में मिश्रण होने से अनेक संताने उत्पन्न हुईं जो विभिन्न निम्न जातियों के अन्तर्गत गृहीत की गईं। इस प्रकार भारतीय समाज में जातियों और उपजातियों का विशाल समुदाय हो गया। वस्तुतः अनुलोम और प्रतिलोम विवाह से अनेकानेक जातियों का विकास प्रारम्भ हो गया। मिश्रण से बनी हुई ये जातियाँ आपस में ऊँच-नीच की भावना से त्रस्त थी, जबकि ये वर्णसंकर जातियाँ स्वयं अस्पृश्य और निम्न श्रेणी की थीं।

‘वर्ण’ एवं ‘जाति’ दोनों शब्दों का प्रयोग बहुधा समान अर्थ में होता रहा है। ‘वर्ण’ की धारणा अर्थात् ‘वंश’, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर आधारित है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्य, उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है। मनु (10/27, 31) ने ‘वर्ण’ शब्द को मिश्रित जातियों के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है और कहीं-कहीं इसका प्रयोग ‘जाति’ अर्थ में भी किया है।

अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों की सामाजिक स्थिति के विषय में स्मृतिकारों के मतों में मतभेद है। (1) यदि एक पुरुष अपने से निम्न पास वाली जाति की स्त्री से विवाह करता है तो उसकी सन्तानों का वर्ण पिता का वर्ण माना जायेगा। बौधायन धर्मसूत्र<sup>36</sup> में उल्लेख मिलता है कि एक ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की संतान ब्राह्मण होगी, किन्तु ऐसी बात क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री

<sup>34</sup> बौधायन धर्मसूत्र, 1.9.15 वर्णसंकरादुत्पन्नान् ब्रात्यानाहुर्मनीषिणो।

<sup>35</sup> बृहस्पति, लक्ष्मीधर द्वारा कृत्यकल्पतरु में उद्धृत, हिस्ट्री अव धर्मशास्त्र 2 पृ० 59

<sup>36</sup> बौधायन धर्मसूत्र, 1/8/6, एवं 1/9/3

से उत्पन्न सन्तान के साथ तथा वैश्य की शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान के साथ नहीं पायी जाती। (2) दूसरे मत के अनुसार अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतानों की सामाजिक स्थिति पिता से निम्नतर किन्तु माता से उच्चतर होती है।<sup>37</sup> (3) विष्णुपुराण में उल्लेख मिलता है कि 'अनुलोमास्तु मातृ सवर्णाः' अर्थात् अनुलोम सन्तानों के कर्तव्य एवं अधिकार उसकी माता के समान होते हैं।<sup>38</sup> यही बात शंख एवं अपरार्क ने भी कही है। (मनु 10/6) ने लिखा है कि पाण्डु, धृतराष्ट्र एवं विदुर क्षेत्रज होने के नाते माता की जाति के थे।

धर्मसूत्रों में बहुत कम वर्णसंकर जातियों का उल्लेख हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में चाण्डाल पौलकस एवं वैण के नाम आते हैं। गौतम ने पाँच अनुलोम जातियों तथा छः प्रतिलोम जातियों के नाम बताये हैं। सर्वप्रथम मनु दस एवं विष्णुधर्म सूत्र 'सोलह' ने वर्णसंकर जातियों के व्यवसाय की चर्चा की है। मनु ने छः अनुलोम, छः प्रतिलोम, 20 मिश्रित जातियों के साथ 23 व्यवसायों की चर्चा की है।

छः अनुलोमों में केवल तीन के नाम मनु ने बताये हैं— यथा अम्बाट, निषाद, उग्र। प्रारम्भिक छः प्रतिलोम हैं— सूत वैदेहक, चाण्डाल, मागुध, क्षत्ता एवं आयोगव। उपजातियों का उद्भव चारों वर्णों एवं अनुलोम तथा प्रतिलोम के सम्मिलन से, एक अनुलोम के पुरुष एवं दूसरे की नारी के सम्मिलन से, प्रतिलोम के पारस्परिक सम्मिलन से तथा अनुलोम के पुरुष या नारी एवं प्रतिलोम के पुरुष या नारी के सम्मिलन से हुआ। याज्ञवल्क्य (1/95) ने रथकार को महिष्य पुरुष एवं करण स्त्री की सन्तान माना है।

<sup>37</sup> मनुस्मृति, 10/6

<sup>38</sup> विष्णु, 16/2

## अम्बठ –

इसे भुज्जकण्ठ भी कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि राजा आम्बष्ठय ने अश्वमेध यज्ञ किया था।<sup>39</sup> बौधायन धर्मसूत्र में अम्बष्ठ ब्राह्मण एवं वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान कहा गया है।<sup>40</sup> स्मृतियों के अनुसार भी अम्बष्ठ की उत्पत्ति ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से हुई थी,<sup>41</sup> तथा उनका प्रधान कर्म चिकित्सा करना था।

## निषाद –

बौधायन के अनुसार ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से निषाद की उत्पत्ति हुई थी।<sup>42</sup> गौतम के मतानुसार इसका उद्भव ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से हुआ था।<sup>43</sup> इस जाति का महाभारत में भी उल्लेख मिलता है। 'रामायण' में तो निषाद जाति का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। भगवान रामचन्द्र को निषादराज 'गुह' ने अपनी नौका से नदी के पार उतारा था।<sup>44</sup> निषाद जाति अत्यन्त निम्न जाति थी, जो नाविक का कार्य करती थी। इसका मुख्य कार्य था मछली मारना।<sup>45</sup> जंगलों आदि में आखेट करना भी इसका रचाभाविक कर्म था।

## उग्र –

गौतम ने इस जाति को वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न माना है।<sup>46</sup> किन्तु बौधायन ने इसके विपरीत मत व्यक्त किया है। उसके अनुसार इस जाति

---

<sup>39</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, 39/7

<sup>40</sup> बौधायन धर्मसूत्र— 1/9/3

<sup>41</sup> याज्ञवल्क्य 1.91, मनु0 10.8 ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।

<sup>42</sup> बौधायन धर्मसूत्र 1.9.3

<sup>43</sup> गौतम धर्मसूत्र, 4.14 अनुलोमा अनन्तरैकान्तरद्वयन्तरासु जाताः

सवर्णाम्ब ऋग्रनिषाददौष्मन्तपारशवाः

<sup>44</sup> रामायण, अयोध्याकाण्ड, 50.33

<sup>45</sup> मनु0 10.48

<sup>46</sup> गौतम धर्मसूत्र, 4.14

का जन्म क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से हुआ है।<sup>47</sup> इस जाति का प्रमुख कार्य था भूमि के बिल में से जानवरों को निकालकर जीवन-यापन करना।<sup>48</sup>

### आयोगव —

वैदिक साहित्य में 'आयोग' शब्द आया है।<sup>49</sup> मनु के अनुसार यह शूद्र पुरुष तथा वैश्य नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है।<sup>50</sup> बौधायन धर्मसूत्र (1/9/7) के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम संतान है। मनु के अनुसार आयोगव की वृत्ति लकड़ी काटना है।<sup>51</sup> बड़ई का काम करने वाली जाति समाज में वैदिक युग से रही है, जो लकड़ी की विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाती थीं, जिन्हें बौद्ध-युग में 'तच्चक' कहा जाता था।

### मागध —

बौधायन के अनुसार उस जाति का जन्म शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से हुआ था। किन्तु गौतम के कथनानुसार इसकी उत्पत्ति प्रतिलोम विवाह के अन्तर्गत वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से हुई थी तथा आचार्य इसे वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न मानते थे।<sup>52</sup>

प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवकृतवैदेहक चण्डालाः।

ब्रह्मण्यजीजनत्पुत्रान्वर्णभ्य आनुपूर्व्याद्ब्राह्मणसूतभागधचाण्डालान् ।।

<sup>47</sup> गौधायन धर्मसूत्र, 1.95

<sup>48</sup> मनुस्मृति, 10.49

क्षत्तुग्रपुक्कसानां तु बिलौकावध वन्धनम्।  
धिग्वणानां चर्मकार्य वेणानां भाण्डेवादनम् ।।

<sup>49</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/4/1

<sup>50</sup> मनु0, 10/12

<sup>51</sup> मनु0, 10/48

<sup>52</sup> गौतम धर्म सूत्र, 4.15-16

स्मृतियों में भी इस जाति का सन्दर्भ मिलता है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार इस जाति का जन्म वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से हुआ था।<sup>53</sup>

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।

वैश्यान्भागधवैदेहौ राजविप्रांगनासूतौ।।

इसका प्रधान कर्म था, 'वणिक-पथ' अर्थात् स्थल मार्ग से व्यापार करना। विष्णुपुराण में भी नदी-तट की जातियों के रूप में मागध का उल्लेख हुआ है।<sup>54</sup>

### रथकार —

वैदिक युग में 'रथकार' एक व्यावसायिक वर्ग था जिसे राज-सम्मान प्राप्त था और जिसका समाज में श्रेष्ठ स्थान था। उत्तर वैदिक काल में उसे 'अग्निहोत्र' यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था। इस जाति का कर्म रथ निर्माण करना था।<sup>55</sup> बौद्ध ग्रन्थों में भी रथकारों का उल्लेख हुआ है।<sup>56</sup> बौधायन के अनुसार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से रथकार की उत्पत्ति हुई थी जो उसके हीनकुल का ज्ञान कराता है।

### क्षत्ता —

वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख है। बौधायन के अनुसार शूद्र पिता एवं क्षत्रिय माता के संयोग से उत्पन्न जाति 'क्षत्ता' अथवा 'क्षत्' के अन्तर्गत गृहीत की गई।<sup>57</sup> मनु इसके लिए उग्र एवं पुल्कस की वृत्ति की व्यवस्था करते

<sup>53</sup> मनु 10.11

<sup>54</sup> विष्णु पुराण, 2.3.16

<sup>55</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1.1.4

<sup>56</sup> अंगुत्तर निकाय, 3 पृ०, 385

<sup>57</sup> बौधायन, 1/9/7

हैं।<sup>58</sup> वसिष्ठ धर्मसूत्र (18/2) में यह वैण कहा गया है। अमरकोश ने क्षत्ता के तीन अर्थ किये हैं— रथकार, द्वारपाल तथा इस नाम की जाति। छान्दोग्योपनिषद् (4/1/5,6,7) में इसे द्वारपाल कहा गया है।

### वैदेहक —

मनु० के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान है।<sup>59</sup> किन्तु गौतम (4/15) के अनुसार यह शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान है। मनु (10/47) एवं अग्निपुराण के अनुसार (151/14) के अनुसार इसका व्यवसाय है अन्तःपुर की स्त्रियों की रक्षा करना। किन्तु वैखानस (10/14) ने इसे बकरी, भेड़, भैंस चराने वाला तथा दूध, दही, मक्खन घी बेंचने वाला कहा है।

### सूत —

सूत्रकारों की दृष्टि से इस जाति की उत्पत्ति क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से हुई थी।<sup>60</sup> मनु ने इसका प्रधान कर्म 'अश्वासरथ्य' अर्थात् अश्व—सारथी का कार्य बताया है।

### बेण —

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार वैदेहक पुरुष और अम्बठ स्त्री के विवाह से 'वेण' नामक जाति की उत्पत्ति हुई।<sup>61</sup> बौद्ध ग्रंथों में उसे हीन जाति के रूप में स्वीकार किया गया है। उनका कार्य लकड़ी का सामान बनाना प्रमुख धन्धा

---

<sup>58</sup> मनुस्मृति, 10/49-50

<sup>59</sup> मनु० 10/11, 12, 13, 17

<sup>60</sup> बौधायन धर्मसूत्र 1.9.9

<sup>61</sup> बौधायन धर्मसूत्र, 10.9.13



था।<sup>62</sup> मनु ने इसका मुख्य कार्य कौंस और मुरज आदि बाजे बजाना बताया है।<sup>63</sup>

### चाण्डाल —

वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यह शूद्र द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है।<sup>64</sup> मनु ने इसे निम्नतम मनुष्य माना है और याज्ञवल्क्य ने सर्वधर्मबहिष्कृत घोषित किया है।<sup>65</sup> चाण्डाल तीन प्रकार के थे (1) शूद्र एवं ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान (2) विधवा-सन्तान एवं (3) संगोत्र विवाह से उत्पन्न सन्तान। यम के अनुसार निम्न प्रकार प्रख्यात है— (1) सन्यासी होने के अनन्तर पुनः गृहस्थ होने पर यदि पुत्र उत्पन्न हो तो पुत्र चाण्डाल होता है, (2) सगोत्र कन्या से उत्पन्न सन्तान एवं (3) शूद्र एवं ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान। मनु ने उल्लेख किया है कि चाण्डालों एवं खपचों को गाँव के बाहर रहना चाहिए, उनके वरतन अग्नि में तपाने पर भी प्रयोग में नहीं लाने चाहिए, उन्हें टूटे-फूटे बरतन में ही भोजन करना चाहिए, उनके आभूषण लोहे के होने चाहिए उन्हें लगातार घूमते रहना चाहिए, रात्रि में वे नगर या ग्राम के भीतर नहीं आ सकते हैं।<sup>66</sup> फाहियान ने भी चाण्डालों के विषय में लिखा है कि जब वे नगर या बाजार में घुसते थे तो लकड़ी के किसी टुकड़े (डंडे) से ध्वनि उत्पन्न करते चलते थे, जिससे कि लोगों को उनके प्रवेश की सूचना मिल जाय और स्पर्श न हो सके।<sup>67</sup>

---

<sup>62</sup> जातक, 4 पृ0 251

<sup>63</sup> वही, 10.49 — वेणानां भाण्डवादनम्।

<sup>64</sup> छान्दोग्योपनिषद्, 5/10/7

<sup>65</sup> याज्ञवल्क्य, 1/93

<sup>66</sup> मनु0, 10/51-56

<sup>67</sup> रिकार्ड्स आफ बुद्धिस्ट किंगडम्स, लैंग द्वारा अनूदित, पृ0 43

## सैरिन्ध्र –

मनु के अनुसार जाति दस्यु और आयोगव स्त्री की संयुक्त से सैरिन्ध्र की उत्पत्ति हुई थी।<sup>68</sup> ऐसी संतान दास का जीवन बिताते हुए मृग जैसे पशुओं का वध करके अपनी जीविका चलती थी। 'मृगपु' नामक जाति का पता तैत्तिरीय संहिता से लगता है जिसकी आजीविका संभवतः मृग पर निर्भर करती थी।

## रजत (धोबी) –

प्राचीन काल से ही यह वर्ग समाज की सेवा में संलग्न था। वैदिक काल में यह जाति अस्पृश्य नहीं थी, किन्तु कालान्तर में आकर यह अस्पृश्य हो गयी। वैखानस के अनुसार यह पुल्कस (वैदेहक) एवं ब्राह्मण स्त्री की सन्तान है।<sup>69</sup> महाभाष्य (2/4/10) ने इसे शूद्र कहा है।

## तंतुवाय (बुनकर) –

इनका उल्लेख वैदिक ग्रंथों से मिलता है जो वस्त्र बुनने का धंधा करती थी।<sup>70</sup> सूत कातना और कपड़ा बुनना भारतीय समाज में पूर्व वैदिक काल से प्रचलित है। उस युग में स्त्रियाँ भी बुनाई का कार्य करती थी, इसलिए उन्हें 'सिरी' शब्द से संबंधित किया गया है। उस युग में सभी प्रकार के वस्त्र उपयोग में लाये जाते थे। तद्युगीन पुषन देवता ऊनी वस्त्र धारण किये हुए वर्णित किये गये हैं।

<sup>68</sup> मनु0, 10.32 प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम्। सैरिन्ध्रं दागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे।।

<sup>69</sup> वैखानस, 10/15

<sup>70</sup> ऋग्वेद, 10.26.6

## कुलाल (कुम्हार) –

विभिन्न प्रकार के मिट्टी के वर्तन बनाने वाले व्यक्ति कुम्हार जाति का होता था, जिसे वैदिक युग में कुलाल कहते थे।<sup>71</sup>

बौद्ध युग में भी यह जाति अपना यही पेशा करती थी।<sup>72</sup> वायुपुराण में मिट्टी के वर्तन निर्मित करने का उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार मिट्टी का पिंड चक्र पर संपीडित किया जाता है और हाथों की सहायता से वह विभिन्न आकार ग्रहण करता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी निर्मित होता है।<sup>73</sup>

मृत्पिण्डस्तु यथा चक्रे चक्रावत्तेन पण्डितः ।

हस्ताभ्यां क्रियमाणस्तु विश्वत्वमुपगच्छति ॥

## स्वर्णकार या “हिरण्यकार” –

तैत्तिरीय ब्राह्मण में हिरण्यकार का उल्लेख हुआ है।<sup>74</sup> सोने का आभूषण बनाने वाला समूह स्वर्णकार जाति के अन्तर्गत आता था। ऋग्वेद के ‘हिरण्यपिण्ड’ से ‘निष्क’ नामक आभूषण का ज्ञान होता है।<sup>75</sup> उत्तर वैदिक युग में ‘हिरण्य’ का अनेक बार उल्लेख किया गया है। यह जाति अनेकानेक आभूषणों का निर्माण करती थी, जो कलान्तर में आकर अत्यधिक संघटित हो गईं। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार सोनार तौल नामक दिव्य में तोला करता था।<sup>76</sup>

---

<sup>71</sup> शतपथ ब्राह्मण, 9.8.1

<sup>72</sup> मज्झिम निकाय, 2 पृ0 18, 46

<sup>73</sup> वायुपुराण, 14.18

<sup>74</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/4/14

<sup>75</sup> ऋग्वेद, 1.122, 14

<sup>76</sup> विष्णुधर्मसूत्र, 10/4

महाभारत में ऐसा आया है कि परशुराम की क्रोधाग्नि से बचकर कुछ लोगों ने क्षत्रियों, लोहारों एवं सोनारों का काम करना आरम्भ कर दिया।<sup>77</sup>

### कर्मार (लोहार) –

वैदिक साहित्य में भी यह शब्द आया है।<sup>78</sup> ऋग्वेद में 'अयस' शब्द का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ सोना और सीसा के अतिरिक्त किसी भी धातु से लिया जा सकता है।<sup>79</sup> निश्चय ही 'अयस' नामक धातु से उस युग में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बनते थे।<sup>80</sup> उत्तर वैदिक काल में आकर लोहे की वस्तुओं का और विकास हुआ तथा कर्मार को "मनीषी शिल्पकार" कहा गया। महाकाव्य युग में भी सभी प्रकार के शस्त्र लोहे के ही बनने लगे थे, जिसे कर्मार ही बनाता था। पाणिनि ने 'कुलालादि' गण (4/3/118) में इस जाति का उल्लेख किया है।

### सुराकार –

वैदिक युग से समाज में सुरापन का प्रचलन था। फलतः सुरा का निर्माण करने वाला एक समूह हो गया था जिसे सुराकार कहा गया।<sup>81</sup> कालान्तर में यह वर्ग समाज में काफी सक्रिय हो गया। गुप्त-युग में सुराकार का व्यवसाय उन्नति को शिखर पर पहुँचने लगा था।

उपर्युक्त जाति-सूची से व्यक्त होता है कि स्मृतियों में वर्णित कतिपय जातियाँ यथा अम्बष्ठ, मागध मल्ल एवं वैदेहक, प्रदेशों से सम्बन्धित हैं। तथा

<sup>77</sup> शान्तिपर्व, 49/84

<sup>78</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/41

<sup>79</sup> शतपथ ब्राह्मण, 5.1.2.14

<sup>80</sup> ऋग्वेद, 1.25.3

<sup>81</sup> अथर्ववेद, 6.70.1

कुछ जातियां आभीर, किरात एवं शक नामक विशिष्ट जातियों पर आधारित हैं। मनु एवं महाभारत (अनुशासन पर्व 33/21-23) ने शकों, यवनों, कम्बोजों, द्रविड़ों, किरात आदि को मूलतः क्षत्रिय माना है, किन्तु वे ब्राह्मणों के सम्पर्क से दूर गये थे। अयस्कार, कुम्भकार, चर्मकार, तक्षा, तैलिक, नट, रथकार वेण आदि कतिपय व्यवसायों पर आधारित है।

वैदिक काल से ही ब्राह्मणों में कुछ ऐसे लोग पाये जाते हैं, जो अध्ययन और अध्यापन से दूर कोई अन्य व्यवसाय करते थे, किन्तु ब्राह्मण कहे जाते रहे हैं। महाभाष्य में तप, वेदाध्ययन एवं जन्म नामक तीन कारणों का उल्लेख मिलता है, जो किसी भी ब्राह्मण के लिए आवश्यक ठहराये गये हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में यह कई बार आया है कि ब्राह्मण जन्म से ही पूज्य है, किन्तु कई स्थलों पर जन्म पर आधारित जाति की भर्त्सना भी की गयी है। गौतम ने आत्मा के आठ गुणों को परम गौरव दिया है, तथा जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था सभी युगों में बलवती बनी रही और कतिपय आचार्यों ने जाति एवं चरित्र में जाति को महत्ता दी है।

धार्मिक साहित्य से स्पष्ट होता है कि व्यवसाय-सम्बन्धी जातियाँ व्यवस्थित एवं धनी थी। इस सम्बन्ध में श्रेणी, पूग, व्रात एवं संघ शब्दों की जानकारी आवश्यक है। कात्यायन के अनुसार सभी समूह या 'वर्ग' कहे जाते थे।<sup>82</sup>

गणाः पाषण्डपूगाश्च व्राताश्च श्रेणयस्तथा ।

समूहस्थाश्च ये चाल्ये वर्गाख्यास्ते वृहस्पतिः ।।

<sup>82</sup> स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत कात्यायन वचन।

पाणिनि ने युग, गण, संघ, व्रात की व्युत्पत्ति आदि की है। महाभाष्य में व्रात को इन लोगों का दल माना है, जो विविध जातियों के थे और उनके कोई विशिष्ट स्थिर व्यवसाय नहीं थे, केवल अपने शरीर के बल से अपनी जीविका चलाते थे। कौटिल्य ने एक स्थान पर सैनिकों एवं श्रमिकों में अन्तर बताया है।<sup>83</sup> और दूसरे स्थान पर यह कहा कि कम्बोज एवं सुराष्ट्र के क्षत्रियों की श्रेणियाँ आयुधजीवी एवं वार्ता (कृषि) जीवी है। विविध भाष्यकारों ने विविध ढंग से इन शब्दों की व्याख्या की है। कात्यायन के अनुसार नैगम एक ही नगर के नागरिकों का एक समुदाय है, व्रात विविध अस्त्रधारी सैनिकों का एक झुंड है, युग व्यापारियों का एक समुदाय है, गण ब्राह्मणों का एक दल, संघ बौद्धों एवं जैनों का एक समाज है तथा गुल्म चाण्डालों एवं खपचों का एक समूह है। याज्ञवल्क्य ने ऐसे कुलों एवं जातियों, श्रेणियों, गणों को दण्डित करने को कहा है, जो अपने आचार-व्यवहार से च्युत होते हैं।

मिताक्षरा ने इस कथन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि युग एक स्थान की विभिन्न जातियों एवं विभिन्न व्यवसाय वाले लोगों का एक समुदाय है और श्रेणी विविध जातियों के लोगों का समुदाय है, जैसे ताम्बूलिकों, जुलाहों, एवं यर्मकारों की श्रेणियाँ। नासिक के 9वें एवं 12वें शिलालेखों में जुलाहों की श्रेणी का उल्लेख मिलता है। हविष्क, कुषाण शासन काल के मथुरा के ब्रह्म शिलालेख में आटा बनाने वाले की श्रेणी की चर्चा है। 'गुप्तवंश' के स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र में तेलियों की एक श्रेणी का उल्लेख है।

---

<sup>83</sup> अर्थशास्त्र, 7/1

इससे स्पष्ट होता है कि ईसा के आस पास की शताब्दियों में कुछ जातियों तथा तेलियां जुलाहों आदि के समुदाय इस प्रकार संगठित एवं व्यवस्थित थे।<sup>84</sup>

‘वर्णसंकर’ बहुवचन में मिश्रित जातियों का सूचक है, किन्तु ‘संकर’ शब्द वर्णों के ‘मिश्रण’ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गौतम ने भी ‘संकर’ शब्द का प्रयोग किया है। गौतम धर्मसूत्र में उल्लेख मिलता है कि दोनों (ब्राह्मण एवं राजन्य) पर सौक्ष्य रक्षण, वर्ण-मिश्रण गुणों का एकत्र होना निर्भर करता है।<sup>85</sup> किन्तु बृहस्पति ने अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों जातियों का वर्णसंकर कहा है। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार जो वर्णसंकर है वे व्रात्य है।<sup>86</sup>

‘वर्णसंकरादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः’।

मेधातिथि के मतानुसार ‘संकरजात’ शब्द ‘अयोगव’ की भाँति प्रतिलोमों का द्योतक है। यद्यपि अनुलोम में भी वर्णसंकरता पायी जाती है, किन्तु अपनी माता की जाति के विशेषाधिकारों को प्राप्त कर लेते हैं। यम ने कहा है कि मर्यादा के लोप होने से ‘वर्णसंकर’ उत्पन्न होता है। यदि वर्णों का उचित क्रम माना जाय तो संताने वर्णत्व प्राप्त करती है, किन्तु यदि प्रतिलोम क्रम माना जाय तो यह पातक है। भगवद्गीता में भी उल्लेख मिलता है कि ‘जब नारियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं, वर्णसंकरता उपजती है.....’।<sup>87</sup>

वर्ण संकरता को रोकने के लिए स्मृतिकारों ने राजाओं को उद्बोधित किया है वे उन लोगों को जो वर्णों के लिए बने हुए निश्चित नियमों का

<sup>84</sup> याज्ञवल्क्य, 1/361

<sup>85</sup> गौतम धर्मसूत्र 8/3 प्रसूतिरक्षणमसंकरो धर्मः।

<sup>86</sup> बौधायन धर्मसूत्र, 1/9/16

<sup>87</sup> भगवद्गीता, 1/41-43

उल्लंघन करे, दण्डित करे। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार शास्त्रों के नियमों के अनुसार राजा को वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए और जब वे (वर्णाश्रम) अपने कर्तव्यों से च्युत होने लगे तो उन्हें ऐसा करने से रोका जाय।<sup>88</sup>

चारों वर्णों के लिए कतिपय प्रमुख वृत्तियाँ निर्धारित हैं। आपत्काल में एक वर्ण अपने निकट नीचे के वर्ण का व्यवसाय कर सकता है, किन्तु अपने से ऊँचे वर्ण का व्यवसाय वर्जित है। किन्तु आपत्ति के हट जाने पर पुनः अपनी वृत्ति में लौट आना चाहिए।<sup>89</sup> उपयुक्त विधानों से जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था की दृढ़ताएँ पर्याप्त मात्रा में शिथिल हो जाती हैं।

शिलालेखों में कहीं-कहीं अन्तर्जातीय विवाह की चर्चाएं पायी गयी है। कादम्ब कुल आरम्भ में ब्राह्मण कुल था, किन्तु कालान्तर में क्षत्रिय हो गया। वृत्ति-परिवर्तन के कारण ही ऐसा सम्भव हो सका और आरम्भ के मयूर शर्मा का कुल कालान्तर में वर्मा उपाधि धारण करने लगा।

### वर्णगत विभिन्न समूह –

कालान्तर में सामाजिक 'वर्ण-व्यवस्था' में वर्णों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के हो गए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के अनेक प्रकार विकसित हो गए। ब्राह्मण 34 प्रकार के क्षत्रिय 36 प्रकार, वणिक 48, ब्राह्मणों को वृत्तियों के अनुसार कई प्रकारों में बांटा गया है। अपरार्क ने देवल को उद्धृत करते हुए ब्राह्मणों को आठ प्रकारों में बांटा है— (1) जाति ब्राह्मण (2) ब्राह्मण (3) श्रोत्रिय (4) अनूचान (5) भ्रूण (6) ऋषिकल्प (7) ऋषि (8) मुनि।

<sup>88</sup> गौतम धर्मसूत्र, 11/9-19

<sup>89</sup> वसिष्ठ, 2/22-23



## कायस्थ जाति –

कायस्थ जाति का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है। किन्तु उनका गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण मिलता है।<sup>90</sup> उनका प्रधान कार्य लेखाकरण, गणना, आय-व्यय और भूमि-कर के अधिकारी भी होते थे। गुप्त युग तक एक वर्ग के रूप में थे जो बाद में चलकर एक जाति के अंतर्गत आ गये। श्रीहर्ष ने कायस्थ की उत्पत्ति यम के लिपिक चित्रगुप्त से मानी है।<sup>91</sup> कायस्थों का सम्बन्ध 'करण' शब्द से भी संयुक्त किया गया है। 'करण' शब्द का व्यवहार वैदिक साहित्य में भी हुआ है। कौटिल्य ने इसी अर्थ में 'कर्णिक' शब्द का उल्लेख किया है। स्मृतिकारों ने 'करण' की उत्पत्ति वैश्य पिता और शूद्र माता से मानी है। डा० राजबली पांडेय ने कायस्थों को वर्णों और जातियों से अलग एक समुदाय के रूप में माना है जो शासन-कार्य में संलग्न रहता था।<sup>92</sup>

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कायस्थ जाति का प्रधान कार्य व्यवसाय लेखन कार्य था। लेखा पद्धति में कायस्थों की लेखन-दक्षता का उल्लेख मिलता है।

उपयुक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति किसी एक कारण से नहीं किन्तु उसके अनेक कारण थे। भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक और आर्थिक। जाति व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति करना था। प्रत्येक जाति के व्यक्ति ने अपने कर्तव्यों की पूर्ति

<sup>90</sup> जर्नल अव यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, 1946, पृ० 81-82, बृहत्कथाकोश।

<sup>91</sup> नैषधचरित् 14.66

<sup>92</sup> पांडेय, इंडियन पैलियोग्राफी, पृ० 93

करके समाज की उत्पत्ति संबंधी मनोवैज्ञानिक समस्याओं को सरलता से हल करने में अपन योगदान किया।

‘वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को ऋषियों ने इस तथ्य को समझा था और उसे एक सुव्यवस्थित योजना बनाकर मानव जाति के क्रमबद्ध अनुशासन में करते हुए प्रयत्न किया कि हर मनुष्य अपने समय और श्रम का पूरा ध्यान रखे, समुचित सावधानी तभी रह सकती है जब उसका क्रम विभाजन ठीक तरह से हो। इसलिए हमारे वेदों में वर्ण-व्यवस्था का विधान रखा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों में सम्पूर्ण समाज विभक्त किया गया है। चारों वर्णों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ण अपना निर्धारित कार्य मिल बांटकर पूरी कुशलता से सम्पन्न करे।

गीता में वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख इस प्रकार किया गया है “चतुर्वर्ण्यं मया सृष्टां गुणकर्मविभागशः” मैंने गुण कर्म के भेद से चारों वर्ण बनाये हैं। इस प्रकार गुणकर्म के अनुसार हमारे यहाँ वर्णों का विधान है। ब्राह्मण वह है जो अपनी बुद्धि, विद्या और ज्ञान से समाज में अज्ञान और मूढ़ता को दूर करने का प्रण करता है, जो कमजोरी या दुर्बलता की कमी की पूर्ति करता है वह क्षत्रिय है, सारे समाज की रक्षा का भार उस पर है हमारी जाति-पांति के काम का विभाजन मात्र है। जो कार्य करना जानता है। वह वैसा ही कार्य करे वैसी जाति में शामिल समझा जाये। हमारे समाज में अनेक उपजातियाँ हो गई हैं। ब्राह्मणों में ही दो हजार अवान्तर भेद हैं। केवल सारस्वत ब्राह्मण की ही अनेक शाखाएँ हैं। क्षत्रियों की 990 और वैश्यों एवं शूद्रों की तो इससे भी अधिक उपजातियाँ हैं।

जाबालि का पुत्र सत्यकाम जाबालि अज्ञात वर्ण होते हुए भी सत्यवक्ता होने के कारण ब्रह्म-विद्या का अधिकारी समझा गया। अतः जाति-व्यवस्था की संकीर्णता छोड़ देने योग्य है। गुण कर्म के स्वभाव के अनुसार ही 'वर्ण' का निर्णय होना चाहिए।

जाति-व्यवस्था के कारण प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक स्वतंत्रता थी। अनेक कायस्थों, वैद्यों और मछुओं तक ने अनेक विधाओं का अध्ययन करके अपने ज्ञान की वृद्धि की किंतु व्यवसायों पर समाज का पूर्ण नियंत्रण था। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति को अपना पैतृक व्यवसाय ही करना पड़ता था। इस प्रकार 'जाति प्रथा' से समाज के अधिकतर व्यक्तियों के हितों की रक्षा हुई समाज के प्रभावशाली वर्ग ब्राह्मण और क्षत्रिय ने अधिक आर्थिक और सांस्कृतिक लाभ उठाया और समाज के निम्नस्तरीय वर्ग को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का अवसर प्रदान न किया। इसलिए जाति प्रथा को अपने प्राचीन संकीर्ण रूप में रखना अब अभीष्ट नहीं है। व्यावसायिक आधार यदि समाज का वर्गीकरण किया जाए तो निश्चित ही समाज के अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों को धनी वर्ग की सहायता से सुखी जीवन बिताने का अवसर मिलेगा जिससे सामाजिक बुराइयों का दुष्प्रभाव समाज पर नहीं पड़ेगा।

\*\*\*\*\*

## उपसंहार

वर्ण—व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान तथा प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्तव्य है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक वर्ण की वृत्तियों के अनुरूप आचार—सम्मत गुणात्मक कर्म है। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप स्थान मिला है। समाज में व्यक्ति का प्रभाव और महत्व वर्ण के आधार पर निश्चित होता है।

वर्ण—व्यवस्था एक क्रमिक चिन्तन का परिणाम था। अतः प्राचीन काल में वर्ण शब्द केवल दास एवं आर्य से ही सम्बन्धित था। ऋग्वेद के प्रारम्भिक चरणों में वर्ण—व्यवस्था जैसी कोई संस्था नहीं थी। यद्यपि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु वर्ण शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पुरुष सूक्त में भी ब्राह्मण, राजन्य वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख हुआ है वहाँ वर्ण का प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद काल में दो वर्ण आर्य और आर्येत्तर ही थे। आर्य और अनार्य में धीरे—धीरे अन्तर समाप्त होने लगा और इनसे विकसित होकर समाज चार वर्णों में विभक्त हुआ। फलतः समाज को व्यवस्थित रखने के उद्देश्य से ही चारों वर्णों की कल्पना करनी पड़ी और विराट पुरुष के विभिन्न अंग अर्थात् मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, उरु (जांघ) से वैश्य, और पैर से शूद्र की उत्पत्ति को व्यक्त किया गया। इस मत को सबल बनाने तथा समाज को नियंत्रित करने के उद्देश्य से ही वर्णों की उत्पत्ति को दैवी बताया गया।

वर्ण—व्यवस्था को दैवी इसलिए कहा गया कि इससे सम्बद्ध वर्ण ईश्वर के भय से अपने—अपने वर्ण के अन्तर्गत रहे तथा उसे तोड़ने अथवा आघात पहुँचाने

का प्रयास न करे। ऋग्वैदिक वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत चारों वर्णों के निश्चित श्रम की भी स्वीकृति है। श्रम विभाजन का यह प्रयास स्वयं विराट पुरुष ने ही किया है। जिनके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण का अपना अलग-अलग कार्य और महत्व है। वस्तुतः चारों वर्ण कार्यात्मक हैं और अपने-अपने क्षेत्र में समाज का अनिवार्य कार्य करते हुए संगठित रूप में समाज के विकास में योगदान करते हैं। ऋग्वेद में ब्रह्म का अर्थ स्तुति तथा क्षत्र का अर्थ शौर्यरूप में किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय के अतिरिक्त शेष आर्यों को विश् अर्थात् (वैश्य) कहा गया है। अनार्यों को दास या शूद्र माना गया। अनार्यों के आर्य समाज में स्वीकृत हो जाने से आर्य समाज कुछ जटिल स्थिति में पहुँचा होगा। इस कारण भी विभाजन की आवश्यकता आयी होगी। यह कार्य ऋग्वेद के अन्तिम चरण में पूर्ण हुआ। जिससे चारों वर्णों की उत्पत्ति-सम्बन्धी विचारधारा में देखा जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना के होने पर सभी वर्ग अपने प्रतिस्पर्धा और विरोध को समाप्त कर कर्तव्यों का पालन करे। वस्तुतः ये चारों ही वर्ण कार्यात्मक हैं और अपने-अपने क्षेत्रों में समाज का अनिवार्य कार्य करते हुए समष्टि रूप में समाज के विकास में योगदान करते हैं।

उत्तर वैदिक-काल में ऋग्वैदिक विचारों को ही स्थान मिला तथा उसमें और अधिक विकास हुआ। ऋग्वैदिक काल में कोई भी व्यक्ति किसी वर्ण का कार्य कर सकता था। इस कार्य के आधार पर ही समाज में उसे स्थान मिलता था।

उत्तर वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था के जन्मना होने के कारण क्रमशः वर्णों में और जटिलता आयी, इसलिए उनके कर्तव्य तथा अधिकारों में और अधिक विस्तार हुआ। इससे वर्णों के पारस्परिक अन्तर में वृद्धि हुई। जिसका

कारण प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग नियम और व्यवस्थाओं का नियमन होना था। इस काल में वर्ण क्रम का संघर्ष केवल वैश्यों एवं शूद्रों में नहीं अपितु ब्राह्मण और क्षत्रियों में हुआ। इस काल में कर्मकाण्डों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। इसके लिए अलग-अलग सम्बोधन, यज्ञ की अलग-अलग लकड़ियां ऋतुएँ, मन्त्र, यज्ञीय द्रव पीने का विधान किया गया। साथ ही वर्णों के कर्तव्य एवं कर्म भी निर्धारित किए गये जिनके पालन से व्यक्ति अगले जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता था।

**(वेदोत्तर काल) या (सूत्रकाल) –**

इस काल में जैन एवं बौद्ध धर्म के कारण ब्राह्मण-विचारधारा प्रभावित हुई। सभी धर्म कर्म की प्रधानता स्वीकार्य करते हैं, किन्तु वर्ण-विभाजन के क्रम को सभी ने नहीं स्वीकार किया है। जैन एवं बौद्ध धर्म व्यक्ति के जन्म के मूल मूल में कर्म को अधिक महत्व देते हैं। ब्राह्मण-चिन्तकों के विपरीत जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने वर्ण को परिवर्तनीय माना और साधना से ही श्रेष्ठता प्रदर्शित होने का विचार प्रस्तुत किए। इस काल में भी शूद्रों के प्रति कठोरता तथा द्विजों के प्रति उदारता दृष्टिगत होती है। इस काल में अनेक धर्मों के कारण समाज में अव्यवस्था की स्थिति आ गयी थी। इस काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय में समन्वय तथा समानता देखने को मिलता है। ब्राह्मण साहित्य में जहाँ वर्ण को अपरिवर्तनीय माना गया है वहीं जैन साहित्य में श्रेष्ठत्व का आधार वर्ण-व्यवसाय न होकर नैतिक साधना बताया गया है। अतः वर्ण परिवर्तनीय है। धार्मिक साहित्य के अनुसार अध्ययन आदि का कार्य सभी वर्णों के लिए समान नहीं था, जबकि बौद्ध एवं जैन साहित्य चारों को श्रमण परम्परा में प्रवेश का अधिकार देते हैं। उत्तर वैदिक काल के समान इस युग में भी वर्णव्यवस्था इतनी

प्रभावी थी कि ब्राह्मण विचारकों ने उपनयन की आयु, वेदाध्ययन का समय, विवाह तथा अन्त्येष्टि को भी वर्णानुसार करने को कहा है।

महाकाव्यों के युग में भी वर्ण-व्यवस्था का वही स्वरूप था जो उत्तरवैदिक काल में था। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है। इस काल में वर्ण का आधार व्यक्ति के गुण और उसके कर्म ही थे। कौटिल्य ने भी वर्ण व्यवस्था का समर्थन किया और तीन वेदों को आधार माना है। मौर्य काल में वर्ण-व्यवस्था को स्थिर करने के उद्देश्य से सम्यक् रूप से वर्णव्यवस्था का पालन में लोक-कल्याण निहित है। वर्ण व्यवस्था के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को प्रेरित किया गया जिससे सभी मानव अपने को सम्पूर्ण समाज से सम्बद्ध समझे और उसके उत्थान एवं विकास के लिए क्रियाशील रहना अपना कर्तव्य समझे।

मौर्योत्तर काल में जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण-धर्म के परस्पर भिन्न विचारों तथा विदेशियों के आक्रमण के कारण उत्पन्न अव्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से सभी धर्मों के मूल को स्वीकार करते हुए वैदिक धर्म पर बल दिया गया। इस काल में वर्ण-व्यवस्था जन्मना और कर्मणा दोनों रही है। कर्म और पुनर्जन्म के समन्वय के कारण ही दोनों वर्ण-व्यवस्था के अंग हो गये। इस काल में सभी वर्णों के कर्तव्यों को अत्यधिक विस्तार के साथ विवेचित किया गया, किन्तु प्रमुख कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया।

गुप्तकाल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इस काल में गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धांत और जन्म पर आधारित जाति सिद्धान्त दोनों का ही प्रभाव समाज पर पड़ा। वर्ण का निर्धारण किसी व्यक्ति के

नैतिक और बौद्धिक स्तर के आधार पर किया जाता था। स्मृतियों में भी वर्णों के कर्तव्यों पर बहुत बल दिया गया। जिससे समाज में उन्नति हो सके। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्तिगत गुणों या मनोवृत्ति के अनुसार समाज के कार्यों का योग्य व्यक्तियों का विभाजन होना चाहिए।

वर्ण व्यवस्था में चारों वर्ण को महत्व प्रदान किया गया। जिसमें पारस्परिक सहयोग, समर्थन तथा स्वकर्म करने से ही चारों वर्ण का विकास, उन्नति, सुरक्षा सम्भव है, इसलिए इनको एक साथ रखा गया।

वर्ण व्यवस्था का प्रारंभिक आधार कर्म था किन्तु कालान्तर में वर्ण कठोर होकर विभिन्न जातियों में परिणत हो गये तथा जाति का आधार विशुद्ध रूप से जन्म हो गया। जाति प्रथा का उद्देश्य मनुष्य की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति करना था। प्रत्येक जाति के व्यक्ति ने अपने कर्तव्यों की पूर्ति करके समाज की उत्पत्ति संबंधी मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और आर्थिक समस्याओं को सरलता से हल करने में अपना योगदान किया। वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य उसकी सहज मनोवृत्ति और उसके गुणों पर आधारित थे। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप स्थान मिलता है। इस प्रकार समाज में व्यक्ति का प्रभाव और महत्व वर्ण के आधार पर निश्चित होता है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान है तथा प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्तव्य होता है।

वर्ण व्यवस्था का प्रारंभिक आधार कर्म था किन्तु कालान्तर में वर्ण कठोर होकर विभिन्न जातियों में परिणत हो गया तथा जाति का आधार विशुद्ध रूप से जन्म हो गया। वैदिक साहित्य में जाति प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।



जाति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख यास्क ने अपने ग्रंथ 'निरुक्त' में कृष्ण जाति के रूप में किया है। तीसरी शताब्दी ई०पू० से वर्ण के लिए जाति शब्द का प्रयोग होने लगा। ईसा पूर्व पांचवी सदी तक समाज में जाति प्रथा प्रतिष्ठित हो गयी थी तथा चारों वर्ण की कठोर होकर जाति का रूप लेने लगा था। वर्ण मात्र चार हैं जबकि जातियाँ अनेक हैं। वर्ण परिवर्तन सरल था किन्तु जाति परिवर्तन कठिन था। विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिक वैवहिक संबंध एवं खान-पान पर भी प्रतिबन्ध था। वर्ण व्यवस्था में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। जातियों के व्यवसाय प्रायः सुनिश्चित होते हैं किन्तु वर्ण के व्यवसाय परिवर्तनशील है। इससे समाज व्यवस्थित हुआ। और एक निश्चित नियम में बंधा इससे वर्ण संकरता पर नियंत्रण लगा। सामाजिक नियमों के कठोर होने और सामान्यतः विवाह अपने वर्ण में ही होने से वर्ण संकरता में रोक लगा। वर्ण-व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के संगठित होने के फलस्वरूप शिल्प कौशल में वृद्धि हुई। इसलिए जाति प्रथा को अपने प्राचीन संकीर्ण रूप में रखना अब अभीष्ट नहीं है। व्यावसायिक आधार पर समाज का वर्गीकरण किया जाए तो निश्चित ही समाज के अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों को धनी वर्ग की सहायता से सुखी जीवन बिताने का अवसर मिलेगा। जिससे सामाजिक बुराइयों का दुष्प्रभाव समाज पर नहीं पड़ेगा।

\*\*\*\*\*

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

### मूल स्रोत—

1. ऋग्वेद : वैदिक शोध संस्थान, पूना, 1937—1946.
2. ऋग्वेद : (सं०अनु०) श्रीराम शर्मा, मथुरा, 1990
3. अथर्ववेद : (सं०अनु०) श्रीराम शर्मा, मथुरा, 1990
4. ऋग्वेद संहिता : वैदिक संशोधन मण्डल — वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, 1946 तथा संपादित पद्मभूषण, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी वलसाड सूरत, 1957
5. ऐतरेय ब्राह्मण : उपाध्याय, गंगा प्रसाद (हिन्दी अनुवाद), प्रयाग, 2006.
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना 1934—38.
7. ऐतरेय—आरण्यक : संपादक कीथ, आक्सफोर्ड, 1909.
8. उपनिषद् : उपनिषद् निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गीता प्रेस, गोरखपुर।
9. बृहदारण्यक उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, संख्या 2012
10. छांदोग्य उपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर, वि०संख्या 2013.
11. वाल्मीकि रामायण : गीता प्रेस गोरखपुर।
12. महाभारत : छः खण्डों में गीता प्रेस गोरखपुर।
13. गौतम धर्मसूत्र : सेक्रेड बुक आव द ईस्ट, जिल्द दो वाराणसी, 1965.
14. बौधायन धर्मसूत्र : पाण्डेय, उमेशचन्द्र काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्भा वाराणसी, 1966.
15. याज्ञवल्क्य स्मृति : संपादक, जे०आर० घरपुरे बम्बई, 1926.

16. कात्यायन स्मृति : संपादक, नारायणचन्द्र बंधोपाध्याय कलकत्ता, 1917.
17. भगवत् पुराण : गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण
18. भगवद्गीता (शंकर भाष्य सहित) : गीता प्रेस गोरखपुर, 1951.
19. विष्णु पुराण : गीता प्रेस गोरखपुर संख्या 2009.
20. बृहद् संहिता : भाग 1-2, वाराणसी 1968
21. अर्थशास्त्र कौटिल्य : संपादक, आर. शामशास्त्री, मैसूर 1909, 1929
22. पतंजलि महाभाष्य : संपादक, एफ0 कीलहार्न बम्बई।
23. हर्षचरित बाणभट्ट : संपादक, कावेल और टामस, 1897

**सहायक ग्रन्थ –**

1. अय्यंगर, के.वी. : आस्पेक्ट्स आव सोशल एण्ड पोलिटिकल रंगास्वामी सिस्टम आव मनुस्मृति, लखनऊ 1949.
2. ओम, प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पंचम संस्करण 2001, विश्व प्रकाशन नई दिल्ली।
3. उपाध्याय, गोविन्द प्रसाद : ब्राह्मणाज इन एंशिण्ट इण्डिया दिल्ली, 1979.
4. अल्लेकर, अनंत, सदाशिव : प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, 1955.
5. कीथ, ए0बी0 : धर्म इन हिन्दू इथिक्स, कलकत्ता, 1977.
6. काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, लखनऊ, 1965
7. घूर्ये, जी0एस0 : वैदिक इण्डिया, बम्बई, 1979.
8. झा0, डी0 एन0, : प्राचीन भारत का इतिहास

9. झा, श्रीमाली : प्राचीन भारत का इतिहास, 32वाँ संस्करण, अगस्त 2010.
10. थापर, रोमिला : एशिण्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, दिल्ली 1976.
11. दास, ए0सी0 : ऋग्वैदिक कल्चर, वाराणसी, 1979.
12. दीपंकर, आचार्य : कौटिल्यकालीन भारत, लखनऊ, 1968.
13. दूबे, सत्यमित्र : मनु की समाज व्यवस्था, इलाहाबाद 1964.
14. पाण्डेय, आर0एन0 : प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास।
15. पाण्डेय, आर0एन0 : संगम युग (साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति) संस्करण 2004.
16. पाण्डेय, विमलचन्द्र : भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, इलाहाबाद 1960.
17. प्रभु पी0एच0 : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन (च0सं0), बम्बई, 1963.
18. पाण्डेय, श्यामलाल : कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था, लखनऊ, 1956
19. ब्लूमफील्ड एम0 : द रिलिन आव द वेद, दिल्ली 1972.
20. बनर्जी, एस0सी0 : इण्डियन सोसाइटी इन द महाभारत, वाराणसी, 1976.
21. मजुमदार, आर0सी0 : द हिस्ट्री एण्ड कल्चर आव द इण्डियन पीपुल, भाग एक द वैदिक एज, बम्बई, 1971.
22. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, दशम संस्करण, नवम्बर 2006.
23. मेहता, आर0एन0 : प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, बम्बई, 1939.

24. मैकडोनल एण्ड कीथ : वैदिक इण्डेक्स (हिन्दी अनुवाद) राय, रामकुमार चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, भाग-1, 1962.
25. राव, विजयबहादुर : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति –एक अध्ययन, वाराणसी, 1966.
26. शर्मा, आर0एस0 : शूद्रों का प्राचीन इतिहास (पुनरावृत्ति) 2005, प्रकाशक राजकमल नई दिल्ली।
27. शर्मा, आर0एस0 : प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1992.
28. शर्मा, आर0एस0 : प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पाँचवी आवृत्ति 2006, प्रकाशन राजकमल, नई दिल्ली।
29. शास्त्री, नीलकण्ठ : नन्द मौर्ययुगीन भारत, (हिन्दी अनुवाद) मंगलनाथ सिंह, वाराणसी 1969.
30. सूर्यकान्त : वैदिक कोश, वाराणसी, 1963.
31. सत्यकेतु, विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, आठवाँ संस्करण 2003.
32. सत्यकेतु, विद्यालंकार : प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, दसवाँ संस्करण 2002, प्रकाशक सरस्वती सदन, नई दिल्ली।

## संकेत सूची

अर्थ	:	अर्थशास्त्र
अथर्व	:	अथर्ववेद
अंगु	:	अंगुत्तरनिकाय
ऑक्स, हिस्ट्री	:	आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
उत्तरा	:	उत्तराध्ययन टीका
ऐ०ब्रा०	:	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋतु	:	ऋतु संहार
कात्यायन	:	कात्यायन स्मृति
कै.हि	:	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
गौतम	:	गौतम धर्मसूत्र
छांदोग्य	:	छांदोग्य उपनिषद्
जैमि० ब्रा०	:	जैमिनीय ब्राह्मण
तै. आ०	:	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० उ०	:	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० सं०	:	तैत्तिरीय संहिता
दीघ०	:	दीघनिकाय
नारद	:	नारद स्मृति
पंच ब्रा०	:	पंचविंश ब्राह्मण
ब्रह्म	:	ब्रह्मपुराण
बृहत्कथा	:	बृहत्कथा श्लोक संग्रह
बृहस्पति	:	बृहस्पति स्मृति
बृ० उप	:	बृहदराण्यक उपनिषद्
बृहत्सं०	:	बृहत्संहिता

बौधायन	:	बौधायन धर्मसूत्र
भगवत	:	भगवत पुराण
मत्स्य	:	मत्स्य पुराण
मनु	:	मनुस्मृति
महा	:	महाभारत
मृच्छ	:	मृच्छकटिक
याज्ञ	:	याज्ञवल्क्य स्मृति
वसिष्ठ	:	वसिष्ठ धर्मसूत्र
बाज० स०	:	वाजसनेयी संहिता
वायु	:	वायु पुराण
विष्णु	:	विष्णुपुराण
विनय	:	विनयपटिक
शत० ब्रा०	:	शतपथ ब्राह्मण
साम	:	सामवेद्
हितो	:	हितोपदेश
हर्ष	:	हर्षचरित

\*\*\*\*\*